Siddhanta's International Journal of Advanced Research in Arts & Humanities
Vol. 3, No. 4, March - April 2026

भारतीय वर्णव्यवस्था : स्वरूप, उत्पत्ति एवं प्रमुख सिद्धान्त

Dr. Dilip Kumar Das
Classical Teacher, Town Government Girls High School, Bhawanipatna, Kalahandi, Odisha, India

सारांश-

भारतीय ज्ञानपरम्परा में वर्णव्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण सामाजिक संस्था के रूप में विकसित हुई। इस व्यवस्था के अन्तर्गत समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में विभाजित कर उनके कर्तव्यों एवं सामाजिक दायित्वों का निर्धारण किया गया। प्रस्तुत शोधपत्र का उद्देश्य भारतीय वर्णव्यवस्था के स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति से सम्बद्ध प्रमुख सिद्धान्तों का विश्लेषणात्मक अध्ययन करना है। शोध में दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त, रंग सिद्धान्त, गुण सिद्धान्त तथा गुणकर्म सिद्धान्त का विशेष रूप से विवेचन किया गया है। अध्ययन से - यह स्पष्ट होता हैकि प्रारम्भिक भारतीय समाज में वर्णविभाजन का आधार मुख्यतः व्यक्तियों के गुण, प्रवृत्ति और कर्म थे, न कि जन्म। किन्तु समय के साथ यह व्यवस्था क्रमशः जन्माधारित और अपेक्षाकृत कठोर सामाजिक संरचना में परिवर्तित हो गई। अतः यह कहा जा सकता है कि वर्णव्यवस्था का मूल उद्देश्य समाज में कार्यविभाजन, सामाजिक समन्वय तथा उत्तरदायित्वों का संतुलित वितरण सुनिश्चित करना था, यद्यपि उसके परिवर्तित रूप ने बाद में जातिगत संरचना को भी प्रभावित किया।

कुञ्जी शब्द- वर्णव्यवस्था, चातुर्वर्ण्य, वर्णोत्पत्ति, रंग सिद्धान्त, गुण सिद्धान्त, गुण-कर्म सिद्धान्त, वैदिक परम्परा।

भूमिका-

वर्ण' शब्द की व्युत्पत्ति संस्कृत धातु वृञ् वरणे से मानी जाती है, जिसका अर्थ है—चयन करना। निरुक्तकार यास्क के अनुसार "वर्णः वृणोतेः", अर्थात् जिसका चयन किया जाए। तथापि वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति तथा स्वरूप के विषय में प्राचीन ग्रन्थों और आधुनिक विद्वानों के मध्य पूर्ण एकमतता नहीं पायी जाती। आधुनिक इतिहासकारों—विशेषतः आरघुर्ये .एस .शर्मा तथा जी .एस .—के अनुसार वर्णव्यवस्था किसी एक समय में निर्मित स्थिर सामाजिक संरचना नहीं थी, बल्कि यह एक दीर्घ सामाजिकऐतिहासिक प्रक्रिया का परिणाम थी।- वैदिक तथा उत्तरवैदिक साहित्य के अध्ययन से यह भी स्पष्ट होता है कि प्रारम्भिक भारतीय समाज में ज्ञान के संरक्षण, शासन-व्यवस्था, आर्थिक उत्पादन तथा सेवा जैसे विविध सामाजिक कार्यों की पूर्ति के लिए क्रमशः कार्यविभाजन की प्रक्रिया विकसित हुई, जिसके परिणामस्वरूप वर्णविभाजन की अवधारणा स्पष्ट रूप से सामने आई। प्राचीन भारतीय समाज के अध्ययन से यह भी ज्ञात होता है कि वैदिक काल के प्रारम्भिक चरणों में सामाजिक विभाजन उतना स्पष्ट नहीं था जितना कि उत्तरकाल में दिखाई देता है। अनेक इतिहासकारों के अनुसार

उस समय समाज में मुख्यतः आर्य और अनार्य दो व्यापक समूहों का उल्लेख मिलता है, जो समय के साथ ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—इन चार वर्णों में व्यवस्थित हो गए। प्रारम्भिक अवस्था में यह व्यवस्था अपेक्षाकृत लचीली और गतिशील थी, जिसमें व्यक्ति अपने गुण, कर्म और आचरण के आधार पर सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त कर सकता था। किन्तु उत्तरवैदिक काल में यह व्यवस्था क्रमशः अधिक स्थिर और जन्माधारित स्वरूप ग्रहण करने लगी, जिसके परिणामस्वरूप वर्णव्यवस्था और जाति-व्यवस्था के बीच स्पष्ट भेद दिखाई देने लगता है। जहाँ वर्णव्यवस्था मूलतः गुण और कर्म पर आधारित एक वैचारिक सामाजिक वर्गीकरण थी, वहीं जाति-व्यवस्था जन्माधारित तथा अपेक्षाकृत कठोर सामाजिक संरचना के रूप में विकसित हुई। वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति और स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों द्वारा अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं, जिनमें दैवी अथवा परम्परागत सिद्धान्त, रंग सिद्धान्त, गुण सिद्धान्त तथा गुण-कर्म सिद्धान्त प्रमुख हैं। प्रस्तुत शोधपत्र में इन सिद्धान्तों के आलोक में भारतीय वर्णव्यवस्था के स्वरूप तथा उसकी उत्पत्ति का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में परम्परागत अथवा दैवी सिद्धान्त को सर्वाधिक प्राचीन और प्रभावशाली माना जाता है। इस सिद्धान्त का आधार *ऋग्वेद* के दशम मण्डल में वर्णित *पुरुषसूक्त* है, जिसमें समाज के चारों वर्णों की उत्पत्ति विराट पुरुष के विभिन्न अङ्गों से प्रतीकात्मक रूप में मानी गई है-

"ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायतः[1] ॥"

अर्थात् विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, जङ्घाओं से वैश्य तथा चरणों से शूद्र की उत्पत्ति बताई गई है। इसी सूक्त में यह भी उल्लेख मिलता है कि-

चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत[2] ॥

अर्थात् परमात्मा ने अपनी मननशक्ति से चन्द्रमा को उत्पन्न किया, ज्योतिर्मयस्वरूप से सूर्य को, प्रमुख बल से विद्युत् और अग्नि को और प्राण् शक्ति से वायु को उत्पन्न किया। अनेक आधुनिक विद्वानों के अनुसार पुरुषसूक्त में वर्णित यह विवरण सामाजिक संगठन का एक प्रतीकात्मक निरूपण है, जिसमें समाज को एक जीवित शरीर के रूप में कल्पित कर उसके विभिन्न अङ्गों के माध्यम से सामाजिक वर्गों के कार्य तथा उनके परस्पर सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया है। जैसे ब्राह्मणों को ज्ञान और शिक्षा के प्रतिनिधि, क्षत्रियों को शासन और संरक्षण के प्रतीक,

[1] ऋग्वेद 10.90.12

[2] ऋग्वेद, 10.90.13

वैश्यों को कृषि, व्यापार और आर्थिक उत्पादन के आधार तथा शूद्रों को सेवा, श्रम और सामाजिक क्रियाशीलता के संवाहक के रूप में देखा गया है।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के सम्बन्ध में रंग सिद्धान्त का उल्लेख भी प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होता है। काठकसंहिता, गोपथब्राह्मण, महाभारत तथा अन्य वैदिकोत्तर ग्रन्थों में विभिन्न वर्णों के साथ विशिष्ट रंगों का सांकेतिक सम्बन्ध स्थापित किया गया है। उदाहरणार्थ महाभारत के शान्तिपर्व में भृगु ऋषि द्वारा वर्णों की व्याख्या करते हुए कहा गया है—

"ब्राह्मणानां सितो वर्णः क्षत्रियाणां च लोहितः।
वैश्यानां पीतको वर्णः शूद्राणामसितस्तथा[3] ॥"

अर्थात् ब्राह्मणों का रंग श्वेत, क्षत्रियों का लाल, वैश्यों का पीत तथा शूद्रों का कृष्ण कहा गया है। विद्वानों के अनुसार यहाँ 'रंग' का आशय शारीरिक त्वचा के भेद से नहीं, बल्कि मानव स्वभाव तथा सामाजिक प्रवृत्तियों के प्रतीकात्मक निरूपण से है। इस दृष्टि से श्वेत रंग को शुद्धता और ज्ञान का, लाल रंग को वीरता और शक्ति का, पीत रंग को समृद्धि और उत्पादनशीलता का तथा कृष्ण रंग को श्रमप्रधान प्रवृत्तियों का प्रतीक माना गया है। आधुनिक विद्वानों ने भी यह स्पष्ट किया है कि यहाँ 'रंग' का आशय शारीरिक वर्णभेद नहीं, बल्कि सामाजिक प्रतीकात्मकता से है।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के सन्दर्भ में गुण सिद्धान्त को भी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार मानव स्वभाव में निहित सत्त्व, रजस् और तमस्—इन त्रिगुणों के आधार पर व्यक्तियों की प्रवृत्तियों तथा सामाजिक भूमिकाओं का निर्धारण किया जाता है। विष्णुपुराण आदि ग्रन्थों में भी गुणाधारित सामाजिक विभाजन का उल्लेख मिलता है। सत्त्वगुण को ज्ञान, शान्ति और संयम का प्रतीक माना गया है; रजोगुण को क्रियाशीलता, साहस और शक्ति का; तथा तमोगुण को जड़ता, अज्ञान और अविवेक का द्योतक माना गया है। इन गुणों की प्रधानता के आधार पर सामाजिक भूमिकाओं का विभाजन समझाया गया है।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के सन्दर्भ में गुणकर्म सिद्धान्त को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना गया है। इस सिद्धान्त - के अनुसार प्राचीन भारतीय समाज में वर्णविभाजन का आधार जन्म नहीं, बल्कि व्यक्ति के गुण और कर्म थे। अनेक उपनिषदों तथा धर्मशास्त्रीय ग्रन्थों में ज्ञान और कर्म के समन्वय की महत्ता का प्रतिपादन किया गया है। ईशोपनिषद् में कहा गया है—-

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयं सह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते[4] ॥

[3] महाभारत, शान्तिपर्व 186.5

अर्थात् जो व्यक्ति विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या के माध्यम से मृत्यु को पार कर विद्या के द्वारा अमृतत्व को प्राप्त करता है। इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में कर्मफल सिद्धान्त के आधार पर यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य अपने कर्मों के अनुसार ही पुण्य अथवा पापफल प्राप्त करता है। महाभारत के शान्तिपर्व में भी वर्णनिर्धारण को आचरण और कर्तव्य से सम्बद्ध माना गया है। वहाँ सत्य, धर्म और सदाचार का पालन करने वाले को ब्राह्मण, शौर्य एवं साहस से युक्त रक्षक को क्षत्रिय, उत्पादन और व्यापार से सम्बद्ध व्यक्तियों को वैश्य तथा सेवा और श्रम से सम्बद्ध कार्यों में संलग्न लोगों को शूद्र कहा गया है। महाभारत में एक अन्य स्थान पर यह भी प्रतिपादित किया गया है कि प्रारम्भ में वर्णों में कोई मूलभूत भेद नहीं था, बल्कि कर्म के आधार पर ही विभिन्न वर्णों का विकास हुआ। शान्तिपर्व में कहा गया है—

"न विशेषोऽस्ति वर्णानां सर्वं ब्रह्ममिदं जगत्।

ब्रह्मणा पूर्वसृष्टं हि कर्मभिर्वर्णतां गतम्[5]॥"

अर्थात् प्रारम्भ में सभी मनुष्य समान थे, किन्तु उनके कर्मों के अनुसार ही वर्णभेद उत्पन्न हुआ। भगवद्गीता में भी वर्णव्यवस्था के गुण-कर्म आधारित स्वरूप को स्पष्ट करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

"चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।
तस्य कर्तारमपि मां विद्ध्यकर्तारमव्ययम्[6] ॥"

अर्थात् गुण और कर्मों के विभाग से चातुर्वण्य मेरे द्वारा रचा गया है। यद्यपि मैं उसका कर्ता हूँ, तथापि तुम मुझे अकर्ता और अविनाशी जानो। इसी विचार को आगे स्पष्ट करते हुए गीता में कहा गया है-

"ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां च परन्तप ।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः [7]॥"

अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों के कर्तव्य उनके स्वभाव से उत्पन्न गुणों के अनुसार निर्धारित किये गये हैं।

वर्णव्यवस्था की उत्पत्ति के सन्दर्भ में जन्माधारित सिद्धान्त के अनुसार वर्णनिर्धारण का आधार व्यक्ति का जन्म माना गया है। इस मत के अनुसार जिस कुल या परिवार में व्यक्ति जन्म लेता है, उसी के आधार पर उसका वर्ण निर्धारित होता है। परिणामस्वरूप ब्राह्मण कुल में जन्म लेने वाला व्यक्ति, भले ही उसमें अपेक्षित ज्ञान या

---

[4] ईशोपनिषद्, 11

[5] महाभारत 12.186.10

[6] *भगवद्गीता 4.13*

[7] *भगवद्गीता 18.41*

योग्यता का अभाव हो, सामाजिक रूप से उच्च स्थान प्राप्त करने लगा। प्राचीन भारतीय समाज में इस धारणा का क्रमिक विकास हुआ और महाकाव्यकाल तक आते-आते वर्णव्यवस्था जन्माधारित होकर अपेक्षाकृत स्थिर तथा कठोर सामाजिक संरचना का रूप ग्रहण करने लगी, जिसके परिणामस्वरूप समाज में विभिन्न जातियों का विस्तार हुआ। महाभारत में द्रोणाचार्य तथा कर्ण जैसे उदाहरण इस तथ्य की ओर संकेत करते हैं कि अनेक परिस्थितियों में व्यक्ति के गुण और कर्म की अपेक्षा उसके जन्म को अधिक महत्व दिया जाने लगा। स्मृतिग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर ऐसी व्याख्याएँ प्राप्त होती हैं, जिनके आधार पर जन्माधारित वर्णव्यवस्था को सामाजिक मान्यता प्रदान की गई। वायु पुराण आदि ग्रन्थों में वर्णों की स्थिति को पूर्वजन्म के कर्मों से सम्बद्ध करते हुए जन्माधारित व्यवस्था को धार्मिक आधार देने का प्रयास किया गया।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि भारतीय वर्णव्यवस्था मूलतः कार्यविभाजन पर आधारित एक सामाजिक व्यवस्था के रूप में विकसित हुई, जिसका प्रमुख उद्देश्य समाज के विभिन्न वर्गों के मध्य संतुलन, सहयोग तथा उत्तरदायित्वबोध की स्थापना करना था। वैदिक तथा उपनिषदिक सा-हित्य के अध्ययन से ज्ञात होता है कि प्रारम्भिक काल में वर्णनिर्धारण व्यक्ति के स्वभाव-, गुण और कर्म के आधार पर किया जाता था, जिसके कारण यह व्यवस्था अपेक्षाकृत लचीली और गतिशील थी तथा उसमें ज्ञान, आचरण और कर्तव्यपालन को विशेष महत्त्व प्रदान किया जाता था। किन्तु कालान्तर में इस व्यवस्था की लचीली प्रकृति क्रमशः क्षीण होती गई और वर्णव्यवस्था जन्म तथा वंश पर आधारित कठोर जातिव्यवस्था में रूपान्तरित हो गई-, जिसके परिणामस्वरूप सामाजिक असमानता तथा ऊँच नीच की-प्रवृत्तियाँ सुदृढ़ होने लगीं। वर्तमान समय में वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में होने वाले आधुनिक विमर्श यह संकेत देते हैं कि उसके मूल गुणकर्माधारित आदर्श-, सामाजिक समन्वय की भावना तथा नैतिक उत्तरदायित्व को स्वीकार करना आवश्यक है, किन्तु जन्माधारित भेदभाव, दुरुपयोग और सामाजिक विषमता को अस्वीकार करते हुए एक समतामूलक तथा न्यायपूर्ण सामाजिक व्यवस्था की स्थापना की दिशा में विचार करना अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

सन्दर्भग्रन्थसूची-

1. झा, गङ्गानाथ (1920–1939)। *मनुस्मृति* (खण्ड 3)। मोतीलाल बनारसीदास।
2. काणे, पी. वी. (2000)। *धर्मशास्त्र का इतिहास* (भाग 1)। हिन्दी समिति।
3. पाण्डेय, उमेश चन्द्र (सम्पा.) (1967)। *याज्ञवल्क्यस्मृति*। चौखम्भा संस्कृत ऑफिस।
4. पाण्डेय शास्त्री, रामनारायणदत्त (सम्पा.)। *महाभारत* (खण्ड 6)। गीता प्रेस, गोरखपुर।
5. रस्तोगी, उर्मिला (सम्पा.) (2005)। *मनुस्मृति*। परिमल पब्लिकेशन्स।
6. सीताराम (2012)। *वर्णव्यवस्था का इतिहास*। पल्लव प्रकाशन।
7. श्रीनिवासाचार्य, एल. (1907)। *बौधायन धर्मसूत्र (गोविन्दस्वामी टीका सहित)*। गवर्नमेंट ब्रांच प्रेस, मैसूर।

8. स्वामी, महात्मा गोपाल (2004)। *आश्रम व्यवस्था (वैदिक मर्यादाओं के आलोक में)*। चौखम्भा पब्लिकेशन।
9. व्यास (1969)। *महाभारत : शान्ति पर्व* (खण्ड 5)। गीता प्रेस, गोरखपुर।
10. वर्मा, विश्वनाथ। *भारत में वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति*। हरिश्चन्द्र स्नातकोत्तर महाविद्यालय, वाराणसी।
11. मीना, श्रीफल (2011)। "प्राचीन भारत में वर्ण व्यवस्था।" *Journal of Advances and Scholarly Research in Allied Education*, 1(2)।
12. शर्मा, रामशरण (1990)। *शूद्रास इन एन्शियेंट इंडिया*। मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।
13. घुर्ये, जी. एस. (2001)। *कास्ट एंड रेस इन इंडिया*। पॉपुलर प्रकाशन, मुम्बई।
14. थापर, रोमिला (2004)। *अर्ली इंडिया: फ्रॉम द ओरिजिन्स टू ए.डी. 1300*। यूनिवर्सिटी ऑफ कैलिफोर्निया प्रेस।
15. सिंह, उपेन्द्र (2008)। *ए हिस्ट्री ऑफ एन्शियेंट एंड अर्ली मीडिवल इंडिया*। पियरसन एजुकेशन, दिल्ली।